

# बादलों के घेरे

कृष्णा सोबती



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद कोलकाता

ISBN : 978-81-267-1184-0

मूल्य : ₹ 295

© कृष्णा सोबती

पहला संस्करण : 1980

दूसरा संस्करण : 2006

पहली आवृत्ति : 2013

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.

1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज

नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006

पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700 017

वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com

ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com

आवरण : राजकमल स्टूडियो

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

BADLON KE GHERE

Stories Collection by Krishna Sobti

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश का, फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनःप्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

## क्रम

बादलों के घेरे	7
दादी-अम्मा	31
भोले बादशाह	46
बहनें	56
बदली बरस गई	65
गुलाबजल गँडेरियाँ	74
कुछ नहीं—कोई नहीं	78
टीलो ही टीलो	92
अभी उसी दिन ही तो	103
दोहरी साँझ	108
डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा	115
जिगरा की बात	117
खम्माघणी, अन्नदाता !	125
सिक्का बदल गया	134
आज़ादी शम्भोजान की	141
कामदार भीखमलाल	145
पहाड़ों के साथे तले	150
न गुल था, न चमन था	160
एक दिन	165
कलगी	178
नफ़ीसा	182
मेरी माँ कहाँ...	185
लामा	191
दो राहें : दो बाँहें	194

गीले स्वर से कहती है, “महेन, आज मैं तुम्हारी बेटी को मिलने आई थी...”

महेन्द्र स्नेह से मुस्कुराते हैं, “मेरी नहीं जया, छाया तुम्हारी बेटी है।”

जया प्यार से भर-भर आती आँखों से महेन्द्र का अधिकार उठाती है। उनमें अविनाश का चेहरा झिलमिलाता है। लगता है, अपनी बीत गई जिन्दगी की एक यही प्रतिछाया तो वह पीछे छोड़ जाएगी। और उसके बिना जो कुछ भी उसमें है, वह डूब जाएगा जीवन की इस दोहरी साँझ में जिसके अधियारे में सब रूप-रंग-आकार और अनुराग लय हो जाते हैं। लय हो जाती हैं नई पुरानी मिली और बिछुड़ी स्मृतियाँ—यही वह दोहरी साँझ है।

सितम्बर, 1953

## डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा

उस तूफानी-सी रात में जब ऊपर का आकाश नारों से गुँज रहा था, दो बाँहों ने किसी सुन्दर सुकुमार शरीर को थामकर आश्वासन दिया, “डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।”

बाँहें बाँहों से मिलीं और भय से सिकुड़ी हुई दो आँखें मुस्कुरा दीं। आँखों से आँखें मिलीं और पृथ्वी के आँचल पर शबनम चू पड़ी।

आकाश के मोती भू पर फूल बनकर खिल गए और एक दिन... ‘मारो-मारो, काटो’, ‘अल्ला-हो-अकबर’, ‘हर-हर-महादेव’...बहार के गुलशन को रौंदते हुए वह हज़ारों कदम, खून में तैरती हुई वह आँखें और हथियारों को तौलते हुए वह हाथ...!

उस बन्द मकान में, साँस रोके हुए दो प्राणी डोलते-डालते, डूबते-डूबते, जिन्दगी और मौत की कशमकश में।

‘मारो-मारो’ की आवाज़ें करीब आ रही हैं। और करीब, और करीब—हल्की सी चीख निकली और दो मजबूत बाँहों ने उस मूर्च्छित-से शरीर को थामकर धीमे से कहा, “डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।” सहसा द्वार पर

हज़ारों की भीड़, किवाड़ टूट गए—‘मार दो, जला दो’—और पलक झपकते हाथों से हाथ छूट गए। पुराने बायदे टूट गए।

“मैं इसकी रक्षा करूँगा, मैं...” स्वर उखड़ गया। किसी ने गला दबाकर सिर दीवार के साथ दे पटका और सुकुमार बाँहें अपनी ओर खींच लीं।

सिर घूमा, आँखें घूमीं, ज़मीन घूमी, आसमान घूमा...और उस चक्कर में देखा—वह नन्हा सा मीठा शरीर खूँखारों के हाथों में ! हाय—एक धार चमकी और सोने से भरी सुनहली बाँहें कटकर नीचे गिर पड़ीं।

“डरो मत...मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।”

एक सुनसान दुपहरी में कैम्प के सामने कुछ लारियाँ आ खड़ी हुई। बच्चे, बूढ़े घायल उतर रहे हैं। भूख से और प्यास से विकल। गिरते-पड़ते, लेकिन इस पिछली सीट पर...? एक निर्जीव युवक...पथराई आँखें, सूखे बाल और नीले अधर...ड्राइवर ने हमदर्दी के गीले स्वर में उस बेजान शरीर को झकझोरकर कहा, “उठो भाई, अपना वतन आ गया...” वतन ! ओठ फड़फड़ाए—दो सोई-सोई भरी हुई बाँहें उठीं, ओठ फड़फड़ाए, “डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा...” आवाज़ मौत की खामोशी में खो गई। पथराई हुई आँखों की पलकें जड़ हो गई—वतन की यात्रा खत्म हो गई। और रक्षा करनेवाली बाँहें हमेशा के लिए स्थिर हो गई। ड्राइवर ने सर्द हाथों से उठाकर बुझे हुए शरीर को ज़मीन पर लिटा दिया। मिट्टी मिट्टी से मिल गई। लेकिन सुनो, मिट्टी से एक धीमी सी आवाज़ उठ रही है।

डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं...

अक्तूबर, 1950

## जिगरा की बात

दुपहर ढलने को आई, कुएँ पर बैलों की जोड़ी बदल गई। झाड़ियों पर पड़े सूखते कपड़ों से धूप की परछाई उतर गई, अमरो ने हाथ का साफ़ा निचोड़ा और छनकर नीचे फैला दिए। खेतों की हरियाली फागुन की हवाओं में डोल रही थी। कुएँ पर छाए पीपल के पात खड़खड़ाकर डालियों से टूट-टूटकर बिखरे चले जा रहे थे। अमरो ने लकड़ी की पाटी धोकर एक ओर रखी, सिर का कपड़ा जरा ऊँचा किया और पानी में हाथ डुबो मुँह पर छींटे दिए। कुएँ के ठंडे ताजे पानी ने कूट-कूटकर धोए कपड़ों की थकान को ढीला कर लिया। बालों पर गीला हाथ फेरा, छोर से मुँह पोछा और उठकर सूखे कपड़ों की तह करने में लग गई। गाढ़े की चद्दर, चारखाना तहबन्द, कमाल जुलाहे का बुना धारीदार खेस और सरदार का लम्बा-चौड़ा कुरता। कुरते के सल निकालते अमरो मन-ही-मन मुस्कराई। मालिक नज़र सीधी रखे, शेरों-सी देह है। इलाके-भर में है कोई उसके बेटे-जैसा ! कभी साफ-सुथरा साफ़ा बाँध, हाथ-भर का शमला छोड़ सरदारा गाँव में निकलता है तो दुश्मनों के दिलों पर बीत जाती है।



## कलगी

हल्के से कम्पन के बाद सुल्लखी ने ढीले कुरते पर अटक गई जंजीर को हिलाकर हाथ से छुड़ाया, पट्ट की ओढ़नी माथे पर खींची और झरोखे में से अपनी दो बड़ी-बड़ी आँखें नीचे गड़ा दीं।

मजबूत घोड़े पर बैठा सवार मखमली झोला और चमचमाता कमरबन्द, कमरबन्द से लटकती तलवार की सुनहली मूठ, चौड़ी छाती, अकड़े हुए कन्धे, तीखे नक्श-नैन, सिर पर केंसरी साफ़ा और लहरों-सी झलक मारती माथे पर लगी कलगी। यही तो वह बहादुर सरदार है जो क्षण-भर पहले सुल्लखी से विदा लेकर नीचे उतरा है। यही तो है सुल्लखी के सिर का धनी जिसका चौड़ा वक्ष और वलिष्ठ बाँहें देखकर उसकी मीठी देह पर से तूफान गुज़र जाता है।

सुल्लखी की रस-भरी आँखों ने मोह में भीगकर ड्योढ़ी पर खड़े जोधासिंह को मन की ओर खींचा, आँखें डबडबा आईं और धुँधले से भीगेपन में जोधासिंह के माथे पर चमकती कलगी तैर गई। सुल्लखी ने चौखट पर कुहनी टेकी, सिर झुकाया, आँखें भर आईं...जोध्यासिंह ने घोड़े को थाप दी, ऊपर देखा और आँखों-ही-आँखों में रात के उन प्रहरों का आश्वासन दिया जब दिन-भर

की लड़ाई के बाद वह दीवतों के प्रकाश में लेटी सुल्लखी के पास पहुँच जाया करता है।

सुल्लखी ने स्वच्छ दृष्टि से एक बार जोधासिंह को देखना चाहा, लेकिन आँसुओं के धुँधलके में केवल चमचमाती कलगी झलक मारकर रह गई। घोड़े की टाप ड्योढ़ी में से निकलकर दूर होती चली गई। टप...टप...दूर, और दूर, हवा में विलीन हो गई।

सुल्लखी ने आँचल आँखों को लगाया। झरोखे से दीखती ड्योढ़ी की छत पर उड़ती-उड़ती सर्दियों की धूप फैल रही थी। महाराज के ज़माने की, ढक्की पर बनी हवेली के बुर्ज फागुन की सिहरती हवाओं में खामोश खड़े थे। आकाश न जाने क्यों स्तब्ध-सा था। ड्योढ़ी से लगा तबेला खाली पड़ा था। घोड़े और सवार आज लड़ाई के मैदान में हैं। सुल्लखी ने एक लम्बी साँस ली, वक्ष के उभार पर जंजीर एक बार फिर हिली और कातर दिल को डुला गई।

दुपहर ढली, फीकी-सी शाम पश्चिम में उतर आई। डूबते सूरज की लाली में आज पीलाई अधिक थी और आकाश में एक ओर किसी अदृश्य परदे में से उभरकर आती हुई तीतर-पंखी बदली फेलती जा रही थी। सुल्लखी ने बँधे-बँधे दिन के बाद किसी तरह अपने को सम्हाला। याद आया चिलियोंवाला की लड़ाई का वह भयानक दिन जब आज ही की तरह जोधासिंह उससे विदा लेकर गया था। फिरगियों का नाम सुनकर सुल्लखी का दिल बैठा जा रहा था। आशंका से आँख फड़क रही थी, पर जाते-जाते जैसे जोधासिंह की आवाज़ ने उसे आश्वासन दिया। और उसने गर्व से जोधासिंह के वलिष्ठ शरीर को देख भरी-भरी आँखों से मुस्कराते हुए सोचा था—कोई लाख फिरंगी हो, ऐसी देह पर वार करने के हाथ-भर का जिगरा चाहिए। पर आज ? आज वह बात कहाँ थी ? जोधासिंह ने जाते-जाते उसे गहरी निगाहों से देखा, पहली बार इस मीठी देह को देखकर न आँखें मचलीं, न बाँहें फड़कीं। आहत-सी दृष्टि ठिठककर रह गई। सामने खड़ी इस चिर-परिचित आकार की छाया मानो अन्धकार में लिपट गई। ओढ़नी का गुलाबी रंग मिट गया, गटे हुए वक्ष को उभार देनेवाला कलई कुर्ता किसी अशुभ स्याही की तरह काला पड़ गया और सुल्लखी के धुले-धुले मुखड़े पर चमकनेवाली कीमती लौंग एक पत्थर का निशान बनकर रह गई। आँसुओं से भरी सुल्लखी की पलकें उठीं तो उनमें जैसे विदाई के आलिंगन की माँग थी। लेकिन जोधासिंह हिला नहीं, उसे टूटते-टूटते

लगा कि अब यह दो आँखें रोते-रोते पथरा जाएँगी।

सुल्लखी ने हिचकी ली—छन...छन...वाँहें आगे कीं। जोधासिंह ने ठंडे पड़े हाथों से उन्हें थाम लिया, पर आज वह पुरानी पकड़ नहीं थी। छूटी हुई आँखों से जैसे छूटे हुए दृश्य को देखा। हाथ पीछे खींचे और पीठ मोड़ ली। घोड़े ने हिनहिनाने की आवाज़ की, सुल्लखी ने निर्जीव शरीर को हिलाया और झरोखे से नीचे झाँका। गीले परदों में आँखें फिर मिलीं और बिछुड़ गई। और सुल्लखी के कानों में दौड़ते हुए घोड़े की टाप टकराती रही—टकराती रही...

सूरज डूबा और बुझी-बुझी साँझ नीली होने को आ गई। आकाश को किसी अभिशाप के धुएँ ने ढाँप दिया। सुल्लखी सदा की तरह ऊपर अटारी पर जा चढ़ी। आँखें मूँद मन-ही-मन मालिक का नाम लिया और आकाश पर चमकते पहले तारे की ओर आँखें घुमाई। बादलों की पतली लहरें—लहरों से बँधी लहरें और लहरें...और वह बादलों के परदों में से झाँकता हुआ रात का भागी-भरा पहला तारा—सुल्लखी ने हाथ जोड़े, देखकर मस्तक नत किया।

प्रियजनों की कुशल के लिए, जोधासिंह की कुशल के लिए वह जाने कब से तुलसी के निकट दीप जलाती आई है। आकाश में चमकते तारे को देख नतमस्तक होती आई है।...और...अकस्मात् गड़गड़ाती भारी तोपों की आवाजों से उसके पाँव हिले, सिर घूमा, तारा टूटा...और वह लड़खड़ाकर दीवार के साथ जा लगी।

नगर के बाहर चिलियाँवाला मैदान में आमने-सामने तोपें। गोले फटने लगे। धमाकों में सूरमाओं की हुँकार विलीन होने लगी। चिंघाड़ते घोड़े और उनके सवार पल-पल सीना तानते और फूल होकर मिट्टी को चूम लेते। धरती वही थी, वही धरती थी, पर उसके ऊपर के पाँव डोल गए थे। सिंह की तरह फिरंगी का सामना करनेवाली मजबूती आज बिखर चुकी थी। जिन अगणित वाजुओं ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, बड़े-बड़े प्रहार झेले, आज वह फिरंगी की धार तले कटकर रह गई। रात काली होती चली जा रही थी और रात का भयानक अन्धकार लाशों पर फैलता हुआ नगर की दीवारों से लिपटने लगा। मिट्टी खून से लाल हो गई और सैकड़ों सिरों की सरदारियाँ धूल में जा गिरीं।

ऐसी निर्दयी रात के प्रहरों में सुल्लखी की नींद नहीं टूटी। आँखों पर छाए मूर्च्छना के अन्धे परदों में से कोई तस्वीर ऊपर नहीं आई। कुछ पता नहीं—ऊँचे बुर्ज की चमकती रोशनी टिमटिमाकर कब बुझ गई, खालसों की

सना की हिम्मत क्योंकर टूट गई, कैसे बहादुरों के हाथों से विजय की पकड़ छूट गई !

भेदती हवा के तीखेपन से जब सुल्लखी की रात-भर की मूर्च्छना टूटी, तो एकाएक आसपास फैले स्त्रियों के समूहों के रुदन का स्वर ऊँचा हो गया। सुल्लखी ने फटी-फटी आँखें खोलीं। जोधासिंह की खून से लथपथ देह आँखों में तैर गई। देखा—सिर धड़ से अलग हो गया था। और माथे की चमचमाती कलगी धूप में जा गिरी थी। वह कलगी छोटी सी जागीर के मालिक सरदार जोधासिंह के माथे की नहीं थी—वह पंजाब के माथे की कलगी थी, जो आज फिरंगी के पैरों तले लोट रही थी।

सुल्लखी मिट्टी-सी होकर जमीन पर पड़ी रह गई। पट्ट की ओढ़नी किसी अतीत के छिन्न-भिन्न हो गए स्वप्न की तरह बिखर गई और अस्त-व्यस्त कपड़ों में लगी सोने की जंजीर फिरंगी की नई लौह-शृंखला की तरह वक्ष के मध्य चमकती रही...

दिसम्बर, 1952